
इकाई 26 अपूर्व, नियम, परिसंख्या, विनियोग, प्रयोग एवं अधिकार विधि

इकाई की रूपरेखा

- 26.0 उद्देश्य
- 26.1 प्रस्तावना
- 26.2 अपूर्वविधि – परिभाषा एवं व्याख्या
- 26.3 नियमविधि – परिभाषा एवं व्याख्या
- 26.4 परिसंख्याविधि – परिभाषा एवं व्याख्या
 - 26.4.1 श्रौती परिसंख्या
 - 26.4.2 लाक्षणिकी परिसंख्या
- 26.5 विनियोग विधि
- 26.6 प्रयोग विधि
- 26.7 अधिकार विधि
- 26.8 सारांश
- 26.9 शब्दावली
- 26.10 कुछ उपयोगी पुस्तके
- 26.11 अभ्यास प्रश्न

26.0 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के पश्चात् आप :

- अर्थसंग्रह में वर्णित अपूर्वविधि के स्वरूप से परिचित हो सकेंगे।
- अर्थसंग्रह में प्रतिपादित नियमविधि के स्वरूप से परिचित हो सकेंगे।
- अर्थसंग्रह में वर्णित परिसंख्याविधि के स्वरूप से परिचित हो सकेंगे; तथा
- प्रतिपाद्य विषयों में वर्णित नये पदों की प्रकृति एवं प्रत्यय को जान सकेंगे।

26.1 प्रस्तावना

‘दृश्यते अनेन इति दर्शनम्’ अर्थात् जिसके द्वारा यथार्थ का दर्शन अथवा ज्ञान होता है उसे दर्शन कहते हैं। सभी को सन्मार्ग में प्रवृत्त करने वाले भारतीय परम्परा के सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ गीता में भगवान् श्रीकृष्ण ने अध्यात्मविद्या की प्रशंसा करते हुए कहा है— ‘अध्यात्मविद्या विद्यानां वादः प्रवदतामहम्’। यह अध्यात्मविद्या ही दर्शन नाम से प्रसिद्ध है। दर्शनशास्त्र के ज्ञान से उचितानुचित का बोध होता है जिससे मनुष्य हितकर कर्म करता है एवं अहितकर कर्म त्याग देता है। भारतीय दर्शन के नास्तिक एवं आस्तिक के भेद से दो विभाजन हुए, पुनः चार्वाक, बौद्ध एवं जैन के रूप में नास्तिक का तथा आस्तिक का सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, मीमांसा एवं वेदान्त के रूप में विभाजन हुआ। इस प्रकार क्रमशः नास्तिक के 3 एवं आस्तिक के 6 भेद हुए। मीमांसा दर्शन

आस्तिक दर्शन का सर्वश्रेष्ठ एवं कर्मकाण्डपरक दर्शन है। मीमांसा शब्द मान् धातु से सन् और स्त्रीत्व की विवक्षा में टाप् प्रत्यय के योग से निष्पन्न होता है। मीमांसा शब्द पूजितविचार अर्थ का द्योतक है जो परमपुरुषार्थ मोक्ष के हेतु का सूक्ष्मतम विचार करता है— 'पूजितविचारवचनो मीमांसाशब्दः। परमपुरुषार्थहेतुभूतसूक्ष्मतमार्थनिर्णयफलतया च विचारस्य पूजितता'। मीमांसा दर्शन के प्रवर्तक आचार्य जैमिनि ने प्रथम सूत्र में 'अथातो धर्मजिज्ञासा' कहकर धर्म को जानने की जिज्ञासा व्यक्त की है। जहाँ 'अथ' शब्द 'वेदाध्ययन के अनन्तर' का बोधक है तथा 'अतः' शब्द 'वेदाध्ययन के दृष्टप्रयोजन' का बोधक है। इसकी लौगाक्षिभास्कर कृत अर्थसंग्रह के प्रारम्भ में बहुत ही सुन्दर व्याख्या प्रस्तुत की गयी है। जहाँ 'यागादिरेव धर्मः' धर्म का प्रारम्भिक लक्षण किया गया है तथा 'वेदप्रतिपाद्यः प्रयोजनवदर्थो धर्मः' इस लक्षण द्वारा धर्म का अर्थ अत्यधिक स्पष्टता से प्रतिपादित किया गया है। मीमांसासूत्र में प्रतिपादित 'चोदना लक्षणोऽर्थो धर्मः' एवं 'वेदप्रतिपाद्यः प्रयोजनवदर्थो धर्मः' धर्म के लक्षणों में कोई विरोध नहीं है क्योंकि चोदना शब्द प्रेरकार्थबोधक होने से सम्पूर्ण वेद का बोधक है एवं वेद का तात्पर्य धर्म ही है इस प्रकार सूत्रग्रन्थ एवं अर्थसंग्रह में निरूपित धर्म के लक्षण में कोई वैमनस्य नहीं है। इसी प्रकार वैशेषिक दर्शन में धर्म का लक्षण प्राप्त होता है— 'यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः'। महाभारत में— 'धारणाद् धर्म इत्याहुः'। धर्म का इतने विस्तार से वर्णन प्राप्त होने के कारण ही मीमांसा दर्शन को धर्मविचारशास्त्र भी कहा गया है— 'अतो धर्मविचारशास्त्रमिदमारम्भणीयम्'। विभिन्न शास्त्रों में इसे धर्ममीमांसा नाम से भी सम्बोधित किया गया है— 'धर्ममीमांसावत् वेदार्थमीमांसया ब्रह्ममीमांसाप्याक्षेप्तं शक्यते भामती'। अर्थसंग्रह के रचयिता लौगाक्षिभास्कर हैं इनका वास्तविक नाम भास्कर है, लौगाक्षि नाम इनके कुल का है इसलिए इन्हें लौगाक्षिभास्कर कहा गया। इनका समय 16वीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध एवं 17वीं शताब्दी का पूर्वाद्ध है। इनकी दो रचनाएँ प्राप्त होती हैं— मीमांसा दर्शन की अर्थसंग्रह एवं वैशेषिक दर्शन की तर्ककौमुदी। अर्थसंग्रह पर रामेश्वर शिवयोगी की कौमुदी, कृष्णनाथ न्यायपंचानन की प्रतिपादिका, जीवानन्द विद्यासागर की टीका, श्रीप्रमथनाथ तर्कभूषण की अमला, पट्टाभिराम शास्त्री की अर्थालोक आदि संस्कृत टीकाएँ प्रसिद्ध हैं। इसके अतिरिक्त हिन्दी एवं अंग्रेजी में भी अनेक अनुवाद में कार्य हुए हैं।

26.2 अपूर्वविधि परिभाषा एवं व्याख्या

उपर्युक्त विवेचन से ज्ञात होता है कि मीमांसा दर्शन का मुख्य विषय धर्म की व्याख्या करना है तथा मीमांसा दर्शन में वेद को धर्मस्वरूप स्वीकार किया गया है। इस प्रकार धर्म को समझने के लिए वेद को जानना अत्यन्त आवश्यक है। पुनः वेद क्या है? 'विद् ज्ञाने' धातु से घञ् प्रत्यय होकर वेद शब्द की निष्पत्ति होती है जिसका सामान्य अर्थ है— ज्ञान की राशि। ऋक्प्रातिशाख्य की व्याख्या में विष्णुमित्र ने वेद का अर्थ किया है— 'विद्यन्ते ज्ञायन्ते लभ्यन्ते एभिर्धर्मादिपुरुषार्था इति वेदाः' अर्थात् जिससे धर्मार्थादि पुरुषार्थ चतुष्टय के स्वरूप का बोध हो, जिससे पुरुषार्थ चतुष्टय का ज्ञान प्राप्त हो तथा जिससे पुरुषार्थ चतुष्टय की प्राप्ति हो उसे वेद कहते हैं। चारों वेदों पर भाष्य करने वाले सायणाचार्य वेद का स्वरूप बताते हुए कहते हैं— 'इष्टप्राप्त्यनिष्टपरिहारयोरलौकिकमुपायं यो ग्रन्थो वेदयति स वेदः' अर्थात् जो इष्ट की प्राप्ति एवं अनिष्ट के निवारण का अलौकिक उपाय बताता है उसे वेद कहते हैं। ऋग्वेदभाष्यभूमिका में मन्त्र एवं ब्राह्मण को वेद के नाम से जाना जाता है— 'वेदब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्'। मीमांसा दर्शन में अपौरुषेय वाक्य को वेद कहा गया है — 'अपौरुषेयं वाक्यं वेदः'। वेद के पाँच भेद किये गये हैं— 1. विधि, 2. मन्त्र, 3. नामधेय,

4. निषेध एवं 5. अर्थवाद। वेद के ये पाँच भेद वेद को भलिभाँति जानने के उद्देश्य से किये गये हैं।

इनमें प्रथम भेद विधि है इसका लक्षण है— 'अज्ञातार्थज्ञापको वेदभागो विधिः' अर्थात् अज्ञात अर्थ (इष्ट) का ज्ञान कराने वाले वेद के अंश को विधि कहते हैं। जैसे— 'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः' इस वाक्य में अग्निहोत्र कर्म द्वारा अबोधित स्वर्गरूपी इष्ट अर्थ का ज्ञान कराया गया है अर्थात् 'अग्निहोत्र होम से स्वर्ग की भावना करें' यह अर्थ बोधित होता है। इस अज्ञात अर्थ का ज्ञापन कराने वाला वेद का अंश विधि है। वेद का द्वितीय भाग मन्त्र है। मन्त्र का लक्षण करते हुए अर्थसंग्रहकार ने कहा है— 'प्रयोगसमवेतार्थस्मारका मन्त्राः' अर्थात् कर्मानुष्ठान के समय द्रव्य देवता आदि पदार्थों का स्मरण कराने वाले वेदभाग को मन्त्र कहते हैं। मन्त्र के मुख्यतः दो प्रयोजन हैं— अदृष्ट प्रयोजन एवं दृष्ट प्रयोजन। अदृष्ट प्रयोजन का अर्थ है— स्वर्गादि की कामना। दृष्ट प्रयोजन का अर्थ है— मन्त्रोच्चारण से कर्मानुष्ठान से सम्बद्ध द्रव्य—देवतादि का स्मरण। सर्वज्ञात है कि दृष्ट प्रयोजन के प्राप्त होने पर अदृष्ट प्रयोजन की कल्पना नहीं की जा सकती— 'दृष्टफलकत्वेऽदृष्टफलकल्पनाया अन्याय्यत्वात्'। अन्यत्र भी कहा गया है—

लभ्यमाने फले दृष्टे नादृष्टपरिकल्पना।
विधेस्तु नियमार्थत्वान्नानर्थक्यं भविष्यति।।

अतः मन्त्र का दृष्ट प्रयोजन द्रव्य—देवतादि का स्मरण प्राप्त है तो स्वर्गादि अदृष्ट प्रयोजन की कल्पना से कोई लाभ नहीं। दूसरा मत यह है कि द्रव्य—देवतादि का स्मरण यदि दूसरे किसी साधन से कर लिया जाय तो मन्त्र का अदृष्ट प्रयोजन भी सिद्ध हो जायेगा एवं दृष्ट भी। किन्तु शास्त्रविहित है कि 'मन्त्रैरेव स्मृत्वा कर्माणि कुर्यादिति' मन्त्रों का स्मरण करके ही कर्मों का सम्पादन करना चाहिए। मन्त्र के अर्थ का ज्ञापन कराने के लिए कुछ विधियों का प्रयोग किया गया है— नियम विधि एवं परिसंख्या विधि। नियम विधि का विवेचन करने क्रम में ही अपूर्व विधि का प्रसंगवश उल्लेख प्राप्त होता है।

अपूर्व विधि वह विधि है जो अत्यन्त अप्राप्त का विधान करती है— 'विधिरत्यन्तमप्राप्तौ'। यह लक्षण तन्त्रवार्तिक में कुमारिल भट्ट ने दिया है। अपूर्व विधि का सामान्य अर्थ है कि जो विधान विभिन्न विधियों के होने पर भी अत्यन्त अप्राप्त हो उसका किसी विशेष विधि द्वारा विधान हो जाना अपूर्व विधि है— 'अप्राप्तप्रापकत्वञ्च प्राथमिकप्रवृत्तिजनकप्रतीतिजनकत्वम्, प्रमाणान्तरजन्यप्रतीत्यविषयविषयकप्रतीतिजनकत्वं वा'। अर्थसंग्रहकार अपूर्व विधि का लक्षण करते हुए कहते हैं कि— 'प्रमाणान्तरेणाप्राप्तस्य प्रापको विधिरपूर्वविधिः' अर्थात् दूसरे अन्य प्रमाणों से अप्राप्त को प्राप्त कराने वाली विधि अपूर्व विधि है। इस प्रकार क्रिया से सम्बद्ध किसी विधान के प्राप्त न होने पर उस विषय में विधायक मन्त्र का प्राप्त हो जाना अपूर्व विधि है। इस विषय में जो विधायक वाक्य है उसके अतिरिक्त अन्य कोई वाक्य नहीं होता इसीलिए अपूर्व विधि के लक्षण में बार—बार 'प्रमाणान्तरेण' कहा जा रहा है। तथा 'अप्राप्तौ' कहने का आशय यह है कि इसके पूर्व अन्य किसी भी विधि का प्राप्त न होना है। इस प्रकार अपूर्व विधि का समन्वय लक्षण हुआ— 'प्रमाणान्तरेण तदर्थत्वेनाप्राप्तस्य तदर्थत्वेन प्रापको यो विधिः अपूर्वविधिरित्यर्थः'।

अपूर्व विधि का उदाहरण है— 'यजेत स्वर्गकामः' अर्थात् स्वर्ग की इच्छा से यज्ञ करना चाहिए। वस्तुतः इससे पूर्व अन्य कोई विधि नहीं थी जो यह बताती कि स्वर्गप्राप्ति के

लिए यज्ञ सम्पादन करना चाहिए। जैसे— तन्तु की सत्ता होने पर पट की सत्ता होती है तथा तन्तु का अभाव होने पर पट का भी अभाव होता है इस प्रकार का तन्तु एवं पट में कार्यकारणभाव सर्वविदित है ठीक वैसे ही याग एवं फलप्राप्ति अथवा स्वर्गप्राप्ति में भी कार्यकारणभाव होता है। स्वर्गप्राप्ति की भावना से किये गये यज्ञ से ही स्वर्ग की प्राप्ति होती है तथा यज्ञ के अभाव में स्वर्ग की प्राप्ति नहीं होती है। इसीलिए 'यजेत स्वर्गकामः' इस वाक्य से स्वर्ग की कामना की जाती है। वस्तुतः इस विधि के अतिरिक्त अन्य किसी साधन से स्वर्गप्राप्ति सम्भव नहीं है तथा इस वाक्य से पूर्व भी अन्य कोई विधि ज्ञात नहीं है अतः विधियों के अप्राप्त होने पर जिस विधि के द्वारा किसी कर्म का विधान किया जाता है वही अपूर्व विधि है। इस प्रकार 'यजेत स्वर्गकामः' इस विधिवाक्य से ज्ञात होता है कि याग के द्वारा ही स्वर्ग की इष्ट भावना करनी चाहिए— 'स्वर्गार्थकत्वेन प्रमाणान्तरेणाप्राप्तस्य यागस्य तदर्थत्वेन 'यजेत स्वर्गकाम' इत्यनेन विधानाद्भवत्ययमपूर्वविधिरित्यर्थः'।

26.3 नियमविधि : परिभाषा एवं व्याख्या

वेद के द्वितीय भाग मन्त्र को भलीभाँति समझने के लिए जिन दो विधियों का नामोल्लेख किया गया है वे हैं— नियम विधि एवं परिसंख्या विधि। सम्प्रति नियम विधि विवेच्य है। तन्त्रवार्तिक में कुमारिल भट्ट ने नियम विधि का लक्षण किया है— 'नियमः पाक्षिके सति' अर्थात् पक्ष में अप्राप्त को प्राप्त कराने विधि को नियम कहते हैं। लक्षण करते हुए अर्थसंग्रहकार कहते हैं— 'नानासाधनसाध्यक्रियायामेकसाधनप्राप्तावप्राप्तस्यापरसाधनस्य प्रापको विधिर्नियमविधिः' अर्थात् जहाँ एक ही क्रिया की सिद्धि के लिए अनेक साधन प्राप्त हों किन्तु किसी एक साधन के प्राप्त होने पर अन्य अप्राप्त साधनों की भी प्राप्ति करा दे ऐसी विधि का नाम नियम विधि है। यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि अपूर्व विधि भी अप्राप्त का प्रापक है एवं नियम विधि भी अप्राप्त का प्रापक है पुनः दोनों में भेद क्या है? तो समाधान इस प्रकार है— अपूर्व विधि भी अप्राप्त को प्राप्त कराने वाली विधि है लेकिन वहाँ जो अप्राप्त है वह किसी अन्य साधन अथवा वाक्य से प्राप्त नहीं है किन्तु नियम विधि में जो अप्राप्त है वह किसी कर्म के सम्पादन में प्राप्त अनेक साधनों में से जो साधन अत्यन्त सरल एवं स्वभावतः सुगम होता है किन्तु वह भी अप्राप्त ही होता है अतः यहाँ भी अप्राप्त का ही ग्रहण किया जाता है। द्वितीय समाधान यह है कि अपूर्व विधि में अत्यन्त अप्राप्त की प्राप्ति होती है तथा नियम विधि में अंशतः अप्राप्त की अथवा पक्ष में अप्राप्त की प्राप्ति होती है।

अनेक साधनों के प्राप्त होने पर भी अप्राप्त साधन का विधान कराने वाली विधि नियम विधि है इसको सरल रूप में इस प्रकार भी कह सकते हैं— 'यश्च पक्षे प्राप्तमर्थ नियमयति, पक्षे अप्राप्तस्य प्रापको विधिः, अत्यन्ताप्राप्तिफलको विधिः, साधनद्वयस्य पक्षप्राप्तौ अन्यतरस्य साधनस्याप्राप्ततादशायां यो विधिरिति वा नियमविधिलक्षणानि भवन्तीति'। जैसे— यज्ञ में अग्नि प्रज्वलन के लिए माचिस, दीपक अथवा अन्य साधन भी प्राप्त हैं किन्तु इन सभी साधनों का त्यागकर जो अप्राप्त साधन है अर्थात् लकड़ी घींसकर अग्नि जलाना, इस अप्राप्त विधि द्वारा ही यज्ञ में अग्नि को जलाते हैं, अतः अग्नि जलाने के लिए विभिन्न के प्राप्त होने पर भी अप्राप्त लकड़ी घींसकर जलाने की विधि का विधान करने वाली विधि नियम विधि है 'अनेकसाधनमध्ये अप्राप्तिपक्षं नियमयतीति नियमविधिरिति वक्तव्यम् एकैकस्य प्राप्तौ सत्यां तादृशानेकसाधनमध्ये यदेकं किञ्चिद्विष्टं तस्य साधनस्य यो विधिः स नियमविधिः'। यहाँ जो इष्ट है यदि यज्ञकर्ता

द्वारा स्वभावतः वह ग्रहण किया जाता है तो वहाँ नियम विधि कार्य नहीं करती। किन्तु इष्ट से व्यतिरिक्त किसी अन्य साधन को लेकर यज्ञकर्ता प्रवर्तित होता है तो वहाँ नियम विधि उपस्थित होकर अप्राप्त इष्ट साधन को प्राप्त कराती है तब अनिष्ट साधन की निवृत्ति हो जाती है तथा उस अनिष्ट साधन का नियमन करने वाली विधि नियम विधि है— 'तत्र च यदिष्टं तदेव यदि कदाचित् स्वभावत एव कर्ता गृह्णाति तदा नियमविधेर्न किञ्चित् कृत्यम्। किन्तु तादृशेष्टसाधनव्यतिरिक्तं किञ्चित् साधनं ग्रहीतुं प्रवर्तते तदा अयं विधिः उपस्थितो भूत्वा इष्टं साधनं तदानीमप्राप्तं ग्राहयति। तदा अनिष्टस्य साधनस्यार्थिकी निवृत्तिर्भवति। एवं च अनिष्टं साधनं नियमनयं नियमविधिरुच्यते'।

मीमांसाशास्त्र में अनुष्ठान के समय अर्थस्मरण (द्रव्य—देवतादि) के अनेक साधन सन्निहित हैं, जिसमें ब्राह्मणवाक्य एवं मन्त्रोच्चारण प्रमुख हैं। यागानुष्ठान के समय यदि कोई ब्राह्मणवाक्य साधन से ही अर्थस्मरण करना चाहता है और मन्त्रोच्चारण को निकृष्ट मानता है, अतः मन्त्रोच्चारणरूपी द्वितीय साधन अप्राप्त हो जाता है। इस अवस्था में 'मन्त्रैरेव स्मर्तव्यम्' विधि द्वारा मन्त्रोच्चारण साधन को ब्राह्मणवाक्य की अपेक्षा प्रमुख साधन के रूप में उपस्थित कर दिया जाता है इस अप्राप्त का विधान जिस विधि द्वारा होता है वही नियम विधि है। अर्थसंग्रहकार ने नियमविधि का अन्य लक्षण प्रस्तुत करते हुए कहा है— 'पक्षेऽप्राप्तस्य प्रापको विधिर्नियमविधिः' अर्थात् पक्ष में अप्राप्त को प्राप्त कराने वाली विधि को नियमविधि कहते हैं।

नियम विधि का उदाहरण है— 'व्रीहीनवहन्ति' अर्थात् व्रीहीन् का अवहनन करना चाहिए। दर्शपूर्णमासादि जैसे बड़े यज्ञों में पुरोडाश के निर्माण के लिए तण्डुलनिष्पत्ति (चावल का छिलका निकालना) एक प्रमुख कर्म होता है। क्योंकि यज्ञ में चावल (धान) की ऐसे ही आहुति नहीं दी जाती अतः तण्डुलनिष्पत्ति आवश्यक है। ऐसी अवस्था में तण्डुलनिष्पत्ति के लिए मुख्य रूप से दो साधन प्राप्त होते हैं— 1. नखविदलन, 2. अवहनन। इस अवस्था में अवहनन साधन की अपेक्षा नखविदलन कर्म को प्रमुखता देते हुए यज्ञकर्ता तण्डुलनिष्पत्ति के लिए प्रवृत्त होता है किन्तु नखविदलन द्वारा तण्डुलनिष्पत्ति करना शास्त्रीय विधि से सही नहीं है इसलिए नियम विधि द्वारा अप्राप्त होने पर भी अवहनन विधि द्वारा तण्डुलनिष्पत्ति का विधान किया जाता है। यहाँ ध्यान देने योग्य है कि नखविदलन रूप एक साधन के प्राप्त होने पर भी अवहनन रूप अप्राप्त साधन को शास्त्रीय विधि से सही होने पर विधान कर देना नियम विधि का ही कार्य है— 'तत्र व्रीहिषु नखविदलनमुसलावहननयोः प्राप्तौ मुसलावहननमेव नियम्यते। व्रीहीनवहन्तीति विध्यभावे दर्शपूर्णमासादिकेषु व्रीहिषु उत्पत्तिवाक्यावगतपुरोडाशोपयोगितण्डुलनिष्पत्यनुकूल—वैतुष्यकार्याय अवहननवत् कदाचित् नखविदलनमपि प्राप्नुयात् इति तस्मिन् पक्षे अवहननस्य प्राप्त्यभावात् कार्यान्यथोपपत्तेः अवहननस्य पाक्षिकी प्राप्तिः स्यात्। सत्यस्मिन् विधौ अवहनेनैव वैतुष्यं कार्यमिति नियमे सति विदलनं सर्वात्मना निवर्तत इति नियमविधिरयम्'।

इस प्रकार 'व्रीहीनवहन्ति' इस वाक्य में नियम विधि द्वारा तण्डुलनिष्पत्ति में अप्राप्त साधन अवहनन का नियम विधि द्वारा विधान किया जाता है— 'वैतुष्यस्य हि नानोपायसाधयत्त्वाद्यदाऽवघातं परित्यज्य उपायान्तरं ग्रहीतुमारभते, तदाऽवघातस्याप्राप्तत्वेन तद्विधाननामकमप्राप्तांशपूरणमेवानेन विधिना क्रियते, अतश्च नियमविधावप्राप्तांशपूरणात्मको नियम एव वाक्यार्थः'। इस प्रकार अवहनन रूप साधन के अप्राप्त होने पर भी उस अप्राप्त साधन को प्राप्त कराने वाली विधि नियम विधि है।

अपूर्व विधि में प्राप्त 'अत्यन्त अप्राप्त' एवं नियम विधि में प्राप्त 'अंशतः अप्राप्त' में जो अन्तर है वह आगे निर्दिष्ट है—

'The Distinction between विधि and नियम may thus be stated. Both विधि and नियम enjoin things, which are अप्राप्त. But while विधि enjoins a matter, which is अत्यन्त अप्राप्त or प्रमाणान्तरेण अप्राप्त' not known from any other source' नियम lays down a matter which is only पक्षे अप्राप्त (nor established in the alternative). Secondly, विधि represents an injunction, pure and simple, of a matter not known from any other source, नियम on the other hand asks us to perform a thing, already known from an other source, in some special manner. Thirdly विधि performs a single function. Viz. enjoining a thing unknown before, but नियम performs two really, because it restricts us to one of the many alternatives and excludes the others.

यदि कोई प्रश्न करे कि 'व्रीहीनवहन्ति' इस वाक्य में अप्राप्त पदार्थ का विधान कैसे सम्भव होगा जब वह पूर्व से ही अप्राप्त है? तब सिद्धान्तपक्ष कहता है कि 'व्रीहीनवहन्ति' वाक्य द्वारा तण्डुलनिष्पत्ति रूप कार्य हेतु अवहनन रूप साधन विधान नहीं किया जाता क्योंकि यह तो अन्यव्यतिरेक सिद्धान्त से सिद्ध है। ऐसी स्थिति में तण्डुलनिष्पत्ति कार्य हेतु अवहनन रूप साधन अप्राप्त हो गया। अतः नखविदलनादि अनेक उपायों द्वारा यह कार्य सिद्ध हो सकता है। किन्तु अन्य सभी साधनों के प्राप्त होने पर भी अवहनन रूप अप्राप्त साधन का विधान करना नियम विधि है अतः नियम में अप्राप्त अंश की पूर्ति के लिए नियम विधि का बोध होता है।

26.4 परिसंख्याविधि : परिभाषा, प्रकार एवं व्याख्या

वेद के द्वितीय भाग मन्त्र को भलीभाँति समझने के लिए जिस दूसरी विधि का उल्लेख प्राप्त होता है वह परिसंख्या विधि है। परिसंख्या का शाब्दिक अर्थ है— निवृत्ति कराना। यहाँ परि शब्द वर्जनार्थक है तथा संख्या शब्द बुद्धि (ज्ञान) का बोधक है इस प्रकार परिसंख्या शब्द का यहाँ अर्थ हुआ— वर्जन कराने वाली बुद्धि अथवा ज्ञान। अतः 'परिशब्दोऽत्र वर्जनार्थः। 'परिर्वर्जने' 8.1.5 इति पाणिनिसूत्रे। संख्या बुद्धिः। परिसंख्या वर्जनबुद्धिः। परिसंख्याजनकः विधिः परिसंख्याविधिः'। इस प्रकार परिसंख्या विधि का अर्थ हुआ— निवृत्ति का बोध कराने वाली विधि। अतः परिसंख्या विधि को इस रूप में भी अभिव्यक्त कर सकते हैं— 'एकस्मिन् प्रधाने नियतप्राप्तस्य अङ्गद्वयस्य एकस्मिन् अङ्गे नियतप्राप्तस्य प्रधानद्वयसम्बन्धस्य अन्यतरनिवृत्तिफलको विधिः परिसंख्याविधिः इति वक्तव्यम्'।

तन्त्रवार्तिककार कुमारिलभट्ट परिसंख्या का लक्षण करते हुए कहते हैं— 'तत्र चान्यत्र च प्राप्तौ परिसंख्येति गीयते' अर्थात् एक समय में युगपत् विधियों के प्राप्त होने पर अन्य का निवारण करने वाली विधि परिसंख्या विधि है। अर्थसंग्रहकार लक्षण करते हैं— 'उभयोश्च युगपत्प्राप्तावितरव्यावृत्तिपरो विधिः परिसंख्याविधिः' अर्थात् दो विधानों के एक साथ प्राप्त होने पर दोनों में से किसी एक की निवृत्ति कराने वाली विधि का नाम परिसंख्या विधि है। मीमांसा मंजरी में लक्षण करते हैं— 'एकस्मिन् अङ्गिनि उभयोरङ्गयोः अङ्गिद्वये एकस्या वा अङ्गस्य समुच्चित्यप्राप्तौ इतरनिवर्तको विधिरिति वा परिसंख्याविधिरित्युच्यते' अर्थात् एक ही अङ्ग में दो अङ्गों के प्राप्त होने पर जो अत्यन्त समुचित हो उसे प्राप्त कराना तथा अन्य का निवृत्ति कराने वाली विधि

परिसंख्या विधि है। मीमांसा परिभाषा में परिसंख्या विधि का लक्षण बताते हैं— 'द्वयोः समुच्चित्य प्राप्तावितरनिवृत्तिफलको विधिः परिसंख्याविधिः' अर्थात् जब एक ही लक्ष्य में समुदित रूप से दो कार्यों की प्राप्ति होती है तब उनमें से एक की निवृत्ति की बोधक विधि को परिसंख्या विधि कहते हैं।

परिसंख्या विधि का उदाहरण है— 'पंच पंचनखा भक्ष्याः' अर्थात् पंच नख वाले पाँच जीव ही भक्ष्य अर्थात् खाने योग्य है। इस वाक्य का सामान्य अर्थ लेने पर ज्ञात होता है कि यहाँ तो पंचनख वाले पाँच जीव खाने योग्य हैं लेकिन जो क्रिया व्यक्ति को रागतः (स्वभावतः) प्राप्त हो उसे शास्त्र द्वारा विधान करने की आवश्यकता नहीं। किन्तु किसी-किसी शास्त्र में मांसाहार के लिए भी विधान प्राप्त होता है जैसे वाल्मीकि विरचित रामायण में एक श्लोक प्राप्त होता है जिसमें पाँच जीवों को खाने की बात कही गयी है—

पञ्च पञ्चनखा भक्ष्या ब्रह्मक्षत्रेण राघव ।
शशकः शल्लकी गोधा खड्गी कूर्मोऽथ पञ्चमः ॥

इसी प्रकार देवलस्मृति में भी कहा गया है —

पञ्च पञ्चनखा भक्ष्या धर्मतः परिकीर्तिताः ।
गोधा कूर्मः शशः खड्गः शल्यकश्चेति ते स्मृताः ॥

याज्ञवल्क्य स्मृति के अनुसार 'भक्ष्याः पंचनखाः सेधा गोधा शशाः कच्छपशल्लकाः' इन पाँच जीवों का भक्षण करना चाहिए। मनुस्मृति भी पाँच जीवों को खाने का विधान करता है— 'श्वाविधं शल्लकं गोधां खड्गकूर्मशशांस्तथा। भक्ष्यान् पंचनखेष्वहः' इस प्रकार विभिन्न शास्त्रों द्वारा घड़ियाल, कच्छप, खरगोश, गँडा एवं मछली इन पाँच जीवों के भक्ष्य का विधान प्राप्त हुआ। इस प्रकार मनुष्य को रागतः तथा शास्त्रतः मांसाहार का विधान प्राप्त होता है।

परिसंख्या का शाब्दिक अर्थ होता है— व्यावर्तन कराने वाली बुद्धि। पुनः 'पंच पंचनखा भक्ष्याः' इस वाक्य द्वारा पञ्चनख वाले पाँच जीवों के भक्षण के विधि का परिसंख्या विधि द्वारा विधान करने का कोई औचित्य ही नहीं प्राप्त होता क्योंकि इसका विधान तो शास्त्रतः एवं रागतः प्राप्त है यह पूर्व में ही बता दिया गया। इस प्रकार 'पञ्च पञ्चनखा भक्ष्याः' वाक्य द्वारा पञ्चनख वाले पाँच जीवों से अतिरिक्त अन्य जीवों के भक्षण का निषेध किया गया है— 'इदमपञ्चनखभक्षणनिवृत्तिपरमिति भवति परिसंख्याविधिः'। वस्तुतः 'पञ्च पञ्चनखा भक्ष्याः' यह वाक्य सामान्यतया मांसभक्षण का विधान करता है तथा यहाँ नियमविधि भी नहीं हो सकती है क्योंकि इस वाक्य से एक ही काल में पञ्चनखभक्षण एवं अपञ्चनखभक्षण स्वभावतः प्राप्त हो रही है यहाँ किसी एक पक्ष में भक्षण की अप्राप्ति नहीं है अतः पक्षविशेष में अप्राप्ति की प्राप्ति कराना नियम विधि है इसलिए यहाँ नियम विधि नहीं हो सकती— 'पञ्चनखापञ्चनखभक्षणस्य युगपत्प्राप्तेः, पक्षेऽप्राप्त्यभावात्, नापि नियमपरमिति'। अतः यह निश्चित हुआ कि 'पञ्च पञ्चनखा भक्ष्याः' वाक्य परिसंख्या विधि का उदाहरण है न कि नियम विधि का। परिसंख्या विधि के भी दो भेद होते हैं— श्रौती एवं लाक्षणिकी।

26.4.1 श्रौती परिसंख्या

परिसंख्या विधि को भलीभाँति समझने के लिए उसके दो भेदों को समझना आवश्यक है श्रौती एवं लाक्षणिकी। इनमें से प्रथम भेद श्रौती परिसंख्या है जिसमें व्यावर्तक शब्द

साक्षात् प्रत्यक्ष होता है वह श्रौती परिसंख्या होती है। इस परिसंख्या में व्यावर्तक शब्द का ज्ञान अभिधा से ही हो जाता है इसके लिए अन्य किसी शब्दशक्ति की कल्पना करने की आवश्यकता नहीं होती। श्रौती परिसंख्या का उदाहरण है— 'अत्र होवावपन्ति' अर्थात् 'यहाँ पर (पवमान स्तोत्र में) ही आवाप करते हैं'। इस वाक्य में 'एव' शब्द द्वारा पवमान स्तोत्र से अतिरिक्त अन्य स्तोत्रों का व्यावर्तन किया गया है— 'एवकारेण पवमानातिरिक्तस्तोत्रव्यावृत्तेरभिधानात्'। यहाँ 'एव' शब्द प्रत्यक्षश्रुत है। प्रत्यक्षमात्र से ही ज्ञात हो जाता है कि 'एव' शब्द से अन्य स्तोत्रों का व्यावर्तन हो जाता है— 'यत्रावापेन वैकृतसंख्या पूरणीया स्यात् तत्र पवमान एव प्राकृतमन्त्राणां गायत्र्यादोच्छन्दस्कानां द्विस्त्रिभ्यासेन वैकृतसंख्यापूरणं कार्यम्। न तु स्तोत्रान्तरे तथाविधाभ्यासः कार्यो नापि मन्त्रान्तरसन्निवेशरूप आवापः। एवं यत्रोद्वापेन वैकृतसंख्यारक्षणीया तत्रापि पवमानस्तोत्रादेव गायत्र्यादिच्छन्दस्कानां कासांचिदृचां परित्यागः कर्तव्यो न तु स्तोत्रान्तरादिति भावः इति'।

26.4.2 लाक्षणिकी परिसंख्या

परिसंख्या का दूसरा भेद है लाक्षणिकी परिसंख्या। इस परिसंख्या में व्यावर्तक शब्द साक्षात् नहीं होता है अपितु लक्षणा से कल्पना करनी पड़ती है। जैसे— 'पञ्च पञ्चनखा भक्ष्याः' इस वाक्य में ऐसा कुछ प्रत्यक्षश्रुत नहीं है जो व्यावर्तन का बोध करा सके। व्यावर्तन के लिए लक्षणा की कल्पना करनी पड़ती है क्योंकि प्रस्तुत वाक्य से मांसभक्षण की निवृत्ति का बोध न होकर प्रवृत्ति का ही बोध हो रहा है। चूँकि यह वाक्य मांसभक्षण के व्यावर्तन के लिए प्रयुक्त है अतः मांसभक्षण से व्यावर्तन के लिए लक्षणा की कल्पना करना आवश्यक हो जाता है।

'पञ्च पञ्चनखा भक्ष्याः' इस वाक्य से 'पञ्चनख वाले पाँच पशुओं का भक्षण करना चाहिए' का व्यावर्तन कर पञ्चनख वाले पाँच जीवों एवं उनसे अतिरिक्त अन्य जीवों का भक्षण नहीं करना चाहिए यह अर्थ लक्षणा से ही ग्राह्य है। अतः उक्त अर्थ वाक्य का वाच्यार्थ न होकर कल्पित अर्थ है इसीलिए यहाँ तीन दोष प्राप्त होते हैं—

1. श्रुतहानि
2. अश्रुतकल्पना एवं
3. प्राप्तबाध

श्रुतार्थस्य परित्यागादश्रुतार्थकल्पनात्।

प्राप्तस्य बाधादित्येवं परिसंख्या त्रिदूषणा ॥

श्रुतहानि दोष —'विधिघटितवाक्यस्य हि विधानं व्यापारः स त्यजत इति श्रुतहानिः' अर्थात् वाक्य द्वारा जो व्यापार विहित किया जाता है उसका त्याग करना श्रुतहानि दोष है। प्रस्तुत वाक्य 'पञ्च पञ्चनखा भक्ष्याः' से पञ्चनख वाले पाँच जीवों के भक्षण का विधान प्राप्त हो रहा है लेकिन लक्षणा करने पर जो अर्थ ज्ञात होता है अर्थात् पञ्चनख वाले पाँच जीवों का भक्षण नहीं करना चाहिए, इससे उस अर्थ का परित्याग करना पड़ता है अतः यहाँ श्रुतहानि नाम का प्रथम दोष है— 'श्रुतस्य शब्दस्य प्रतिपन्नार्थस्य हानः परित्यागः'।

अश्रुतकल्पना दोष —'वर्जनबोधनञ्च नञ्घटितवाक्यस्य व्यापारः। सोऽत्र स्वीक्रियत इति अन्यार्थस्य कल्पना इति अश्रुतकल्पना' अर्थात् वाक्यार्थ में वर्जनपरक बोध एवं नञ्युक्त व्यापार होकर अन्य अर्थ की कल्पना की जाती है वहाँ अश्रुतकल्पना नाम का दोष होता है। जैसे— 'पञ्च पञ्चनखा भक्ष्याः' वाक्य में पञ्चनख वाले पाँच जीवों एवं

उनसे अतिरिक्त अन्य जीवों के मांसभक्षण की निवृत्ति अश्रुतकल्पना है क्योंकि प्रस्तुत वाक्य से इस प्रकार के अर्थ की कोई कल्पना ही नहीं होती है— 'अश्रुतस्य शब्दाप्रतीतार्थस्य कल्पना' ।

प्राप्तबाध दोष —'रागतः प्राप्तस्य अपञ्चनखभक्षणस्य बाधनं क्रियत इति प्राप्तबाधः' अर्थात् रागतः प्राप्त अपञ्चनख जीवों के मांसभक्षण का निषेध कर देना प्राप्तबाध नाम का तृतीय दोष है। 'पञ्च पञ्चनखा भक्ष्याः' इस वाक्य में किसी भी जीव के मांसभक्षण का निषेध प्राप्त नहीं है लेकिन रागतः, शास्त्रतः एवं प्रमाणान्तर से प्राप्त पञ्चनखभक्षण एवं अपञ्चनखभक्षण का बाध लक्षणा की कल्पना से प्राप्त होता है— 'प्राप्तस्य च अपञ्चपञ्चनखभक्षणस्य बाधनात्' । श्रुतहानि एवं प्राप्तबाध दोष समान नहीं हैं दोनों में अन्तर है जैसे— श्रुतहानि में वाक्य द्वारा अभिधा से जो अर्थ प्राप्त होता है उसका परित्याग किया जाता है किन्तु प्राप्तबाध में रागतः अथवा प्रमाणान्तर से प्राप्त का परित्याग होता है— 'प्राप्तस्य प्रमाणविशेषेण कर्तव्यतया प्रतीतस्य बाधो व्यवहारव्यावर्तनमित्यर्थः' । पञ्चनख अथवा अपञ्चनख जीवों का भक्षण तो मनुष्य को रागतः एवं शास्त्रतः प्राप्त है इसमें प्रवृत्ति के लिए किसी अन्य विधिवाक्य की आवश्यकता नहीं पड़ती। किन्तु इनका भक्षण नहीं करना चाहिए यह बतलाने के लिए 'पञ्च पञ्चनखा भक्ष्याः' यह वाक्य प्रवृत्त होता है। इस नियम से पञ्चनख वाले पाँच जीवों से अतिरिक्त अन्य सभी पञ्चनख जीवों एवं अपञ्चनख जीवों के भक्षण का बाध कर दिया गया है— 'दोषत्रयञ्च स्वार्थहानिः (श्रुतहानिः) परार्थस्वीकारः (अश्रुतकल्पना) प्राप्तबाधश्चेति । विधिशब्दघटितवाक्यस्य हि विधानं व्यापारः । स त्यज्यते । वर्जनबोधनं च नञ्घटितवाक्यस्य व्यापारः । सोऽनेन स्वीक्रियते । प्राप्तस्य पञ्चातिरिक्तपञ्चनखस्य बाधनं क्रियते इति । इदं च दोषत्रयं शाब्दामेव परिसंख्यायाम् । तत्रापि लाक्षणिक्यामेव, न तु श्रौतपरिसंख्यास्थले' ।

श्रुतहानि, अश्रुतकल्पना एवं प्राप्तबाध इन तीनों दोषों में श्रुतहानि एवं अश्रुतकल्पना ये प्रथम दो दोष शब्दनिष्ठ होते हैं। श्रुतहानि दोष में शब्दनिष्ठता स्पष्ट है क्योंकि शब्द के अभिधाशक्ति से प्राप्त वाच्यार्थ का ही बाध किया जाता है जो कि शब्दनिष्ठ ही है। अश्रुतकल्पना में अपञ्चपञ्चनखभक्षणनिवृत्ति रूप प्राप्त अर्थ का आधार भी शब्दनिष्ठ ही है क्योंकि 'पञ्च पञ्चनखा भक्ष्याः' इस वाक्य से प्राप्त अर्थ के स्थान पर अपञ्चपञ्चनखभक्षणनिवृत्ति लक्षणा से होती है लेकिन लक्षणा भी शब्द को आश्रित करके ही प्रवृत्त होती है अतः अश्रुतकल्पना दोष भी शब्दनिष्ठ है। किन्तु तृतीय दोष प्राप्तबाध अर्थनिष्ठ दोष है क्योंकि 'पञ्च पञ्चनखा भक्ष्याः' इस वाक्य का अर्थ हुआ पञ्चनख वाले पाँच जीवों का भक्षण करना चाहिए। मनुष्य तो रागतः एवं शास्त्रतः भी इस व्यवहार में प्रवृत्त होता ही है। अतः मांसभक्षण की प्रवृत्ति के लिए इस वाक्य की आवश्यकता नहीं। पुनः पञ्चनख एवं अपञ्चनख जीवों के मांसभक्षण का बाध करने के लिए भी शब्दाश्रित होने की आवश्यकता नहीं, क्योंकि विषय का अर्थ से बोध हो जाने पर शब्द की आवश्यकता नहीं पड़ती। क्योंकि यह समस्त विश्व शब्द एवं अर्थ रूप है। इस प्रकार यह तृतीय दोष अर्थनिष्ठ हुआ।

26.5 विनियोग विधि

मीमांसा दर्शन द्वारा निर्देशित चतुर्विध विधियों में द्वितीय एवं प्रमुख विधि विनियोग विधि है। यह अंग एवं अंगी के मध्य होने वाले सम्बन्ध को बताती है यह द्रव्यदेवतादि अंगों एवं होमादि अंगी के मध्य के सम्बन्ध का बोध कराती है— 'अङ्गप्रधानसम्बन्धबोधको

विधिर्विनियोगविधिः। इसका उदाहरण है— 'दध्ना जुहोति' अर्थात् दधि से होम करता है। यहाँ 'दध्ना' में तृतीया के द्वारा दधि अंग का तथा जुहोति से अंगी (अग्निहोत्रं जुहोति) के सम्बन्ध का विधान किया गया है— 'सा हि तृतीयया प्रतिपन्नाङ्गभावस्य दध्नो होमसम्बन्धं विधत्ते दध्ना होमं भावयेदिति' इसलिए यहाँ विनियोग विधि है। विनियोग विधि जिनकी सहायता से अंगत्व का बोध कराती है वे संख्या में छः प्रमाण हैं— 1. श्रुति 2. लिंग 3. वाक्य 4. प्रकरण 5. स्थान एवं 6. समाख्या। इनका संक्षिप्ततः विवेचन प्रस्तुत है श्रुत्यादि षट् प्रमाण —

श्रुति —जो विनियोग काल में प्रमाणान्तर की अपेक्षा न रखने वाली है वह श्रुति है— 'निरपेक्षो रवः श्रुतिः'। यह श्रुति मुख्य रूप से तीन प्रकार की होती है— 1. विधान करने वाली लिङ्गादि श्रुति को विधात्री कहते हैं यथा— दध्ना जुहोति एवं ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत में जुहोति एवं यजेत विधात्री श्रुति है। 2. अभिधान करने वाली व्रीह्यादि श्रुति को अभिधात्री कहते हैं यथा— व्रीहीन् अवहन्ति एवं व्रीहीन् प्रोक्षति में व्रीहि अभिधात्री श्रुति है। 3. विनियोग करने वाली श्रवणमात्र से अङ्गाङ्गिभाव बोधक श्रुति को विनियोक्त्री कहते हैं। शास्त्र भी प्रमाणित करते हैं कि —

अभिधात्री श्रुतिः काचिद्विनियोक्त्यपरा तथा ।

विधात्री च तृतीयोक्ता प्रयोगो यन्निबन्धनः । तन्त्रवार्तिके

त्रिविधा श्रुति में प्रथम श्रुति विधात्री है यह भी अवान्तर भेद से तीन प्रकार की होती है— विभक्तिरूपा अर्थात् जहाँ विभक्ति के श्रवण से अंगत्व का बोध होता है जैसे— 'व्रीहिभिर्यजेत' यहाँ व्रीहिभिः द्वारा तृतीया विभक्ति के श्रवण से व्रीहि याग का अंग है ऐसा बोध होता है। इसी प्रकार 'अरुणया पिङ्गाक्ष्या एकहायन्या गवा सोमं व्रीणाति' में अरुणया एवं गवा दोनों का तृतीया में प्रयोग हुआ है, लेकिन यहाँ पर अरुणया के अमूर्त होने से क्रयण सम्भव नहीं अतः गो का अंगत्व सिद्ध है। 'व्रीहिन् प्रोक्षति' में व्रीहि के द्वारा द्वितीया विभक्ति के श्रवण से अंगत्व बोधित होता है। प्रोक्षण के अपूर्वयुक्त होने के कारण व्रीहिप्रोक्षण के विना यागानुष्ठान से अपूर्व की उत्पत्ति सम्भव नहीं इसलिए व्रीहिन् का अंगत्व सिद्ध है। इसी प्रकार सप्तमी विभक्ति के श्रवण से अंगत्व का बोध होता है। यथा— 'यदाहवनीये जुहोति' यहाँ आहवनीये द्वारा सप्तमी विभक्ति के श्रवण से आहवनीय अग्नि को होम का अंग माना गया है। इसी प्रकार अन्य विभक्तियों के द्वारा भी विभक्ति श्रुति से अंग का बोध करना चाहिए। विधात्री श्रुति के समानाभिधान एवं एकपदरूपा श्रुति को बताते हुए उदाहरण प्रस्तुत करते हैं— 'पशुना यजेत' यहाँ पशुना पद में टा के श्रवण से करण कारक, एकत्व (एकवचन) एवं पुंस्त्व का बोध हो रहा है अतः यह समानाभिधान (एकाभिधान) है तथा यजेत में आख्यात के भावना एवं एकत्व संख्या का बोध होता है यहाँ याग अंगी एवं एकत्व संख्या अंग है अतः यहाँ एकपदश्रुति है— 'पशुना यजेत' इत्यत्र एकत्वपुंस्त्वयोः समानाभिधानश्रुत्या कारकाङ्गत्वम्। तयोरेव एकत्वपुंस्त्वयोः एकपदश्रुत्या पशुद्रव्याङ्गत्वं भवति। यह श्रुति लिंगादि से सर्वदैव प्रबल है क्योंकि विनियोग के लिए इसे अन्य किसी प्रमाण की आवश्यकता नहीं पड़ती। किन्तु लिंगादि को अन्य प्रमाणों की प्रमाणों की आवश्यकता पड़ती है तथा ये साक्षात् विनियोग नहीं कर सकते किन्तु श्रुति प्रत्यक्षतः विनियोग कर सकती है इसलिए यह श्रुति प्रमाण सभी से प्रबल है।

लिंग —शब्दों की शक्ति को लिंग कहते हैं— 'शब्दसामर्थ्यं लिङ्गम्'। इस शक्ति से शब्दगत सामर्थ्य एवं अर्थगत सामर्थ्य सिद्ध होता है— 'तेन शब्दगतं सामर्थ्यम् अर्थगतञ्च तदिति सिध्यति'। यह सामर्थ्य रूढि अर्थ वाला होता है और इसका रूढि

अर्थ होना ही समाख्या से भेद है क्योंकि समाख्या यौगिक अर्थ का निर्देशन करती है। लिंग का उदाहरण है— 'बर्हिर्देवसदनं दामि' अर्थात् देवों के सदन बर्हि को काटता हूँ। यहाँ लिंग के बलवान् होने से रूढि अर्थ ग्रहण किया जाता है जहाँ कुश का छेदन होता है। अतः कुशछेदन क्रिया का अंगत्व ग्राह्य है। यदि समाख्या से अर्थ का बोधन करें तो बर्हिर्दामि का अर्थ उलप आदि तृणों में जायेगा जो अभिप्रेत नहीं है— 'तेन बर्हिर्देवसदनं दामि' इति मन्त्रस्य कुशलवनाङ्गत्वं न तूलपादिलवनाङ्गत्वं तस्य। बर्हिर्दामि इति लिङ्गात् तल्लवनं प्रकाशयितुं समर्थत्वात्। यह लिंग अन्य वाक्यादि प्रमाणो से बलवान् है। क्योंकि 'स्योनं ते सदनं कृणोमि' यह मन्त्र लिंग प्रमाण के द्वारा पुरोडाश सदनकरण के प्रति अंग होता है लेकिन वाक्यादि प्रमाण नहीं।

वाक्य —विनियोग के सहायकभूत छः प्रमाणों में से तीसरे प्रमाण के रूप में वाक्य है। वाक्य का लक्षण है— 'समभिव्याहारो वाक्यम्' अर्थात् अंगांगिवाचक पदों का सहोच्चारण वाक्य कहलाता है। अर्थालोक टीका में स्पष्ट किया है— 'शेषशेषिवाचकपदयोः अङ्गाङ्गिवाचकपदयोस्सहोच्चारणं वाक्यमत्राभिप्रेतम्।' साध्यत्वादि के वाचक द्वितीयादि के अभाव में भी समभिव्याहार का ग्रहण हो जाता है। वाक्य का उदाहरण है— 'यस्य पर्णमयी जुहूर्भवति न स पापं श्लोकं शृणोति' अर्थात् जिस यजमान की जुहू पलाश की बनी होती है वह अपना अपयश नहीं सुनता है। यहाँ पर्णता का जुहू के साथ अंगत्व है। पर्णता का उच्चारण व्यर्थ नहीं है क्योंकि पर्णता से सम्बद्ध जुहू के साथ ही अपूर्ण है अन्यथा किसी भी काष्ठ से जुहू बनायी जा सकती है इसलिए यहाँ पर 'पर्णतयावत्तहविधरिणद्वारा जुह्वपूर्वं भावयेदेति' अर्थात् विभक्त की गयी हवि के धारण द्वारा पलाश से जुहू के अपूर्व की भावना करेंय यह वाक्यार्थ प्राप्त होता है। इस प्रकार पलाश से निर्मित जुहू ही अपूर्व का साधन बनेगा अन्य नहीं। यहाँ अवत्त शब्द भी ग्रहण करना चाहिए अन्यथा स्रुवा आदि में पर्णता की अतिव्याप्ति होने लगेगी। यह पर्णता केवल प्रकृति यागों में ही गृहीत होती है विकृति यागों में नहीं। प्रकृति याग उसे कहते हैं जिसमें सभी अंगों का ग्रहण होता है— 'यत्र समग्राङ्गोपदेशः सा प्रकृतिः' जैसे— दशपूर्णमासादि याग। जिस याग में सभी अंगों का उपदेश नहीं होता है वह विकृति याग है— 'यत्र न सर्वाङ्गोपदेश सा विकृतिः' जैसे— सौर्यादि याग। सौर्यादि यागों में कई अंगों की प्राप्ति अतिदेश से हो जाती है। यह वाक्य प्रकरणादि प्रमाणों से बलवान् है क्योंकि 'इन्द्राग्नी इदं हविः' यह मन्त्र वाक्य प्रमाण से 'दर्श' याग की अंगता बताता है न कि प्रकरण प्रमाण से दर्शपूर्णमास की अंगता।

प्रकरण —अंग एवं अंगी की परस्पर आकांक्षा को प्रकरण कहते हैं— 'उभयाकाङ्क्षा प्रकरणम्'। इसका अन्य भी लक्षण प्राप्त है जैसे— 'अङ्गप्रधानोभयवाक्यगता आकाङ्क्षा प्रकरणम्', 'वाक्यैकवाक्यता प्रकरणम्', 'अङ्गवाक्यतासापेक्षं प्रधानवाक्यं प्रकरणम्' इत्यादि। इस प्रकार परस्पर दो वाक्यों की आकांक्षा को प्रकरण कहते हैं। जैसे कि 'समिधो यजति' इस वाक्य के श्रवण से साधनमात्र का बोध होता है फल का नहीं, तथा 'समिधागेन भावयेत्' के श्रवण से भी उपकार्य फल की आकांक्षा प्राप्त होती है। इसी प्रकार 'दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गं भावयेत्' अर्थात् दर्श एवं पूर्णमास से स्वर्ग की भावना करें का श्रवण होता है लेकिन किस प्रकार करें इस उपकारक अंग की आकांक्षा रहती है। इस प्रकार उपकार्य एवं उपकारक की परस्पर आकांक्षा अथवा अंग एवं अंगी की परस्पर आकांक्षा ही प्रकरण है अतः प्रयाजादि दर्शपूर्णमास के अंग होते हैं— 'इत्थं चोभयाकाङ्क्षया प्रयाजादीनां दर्शपूर्णमासाङ्गत्वं सिद्धम्'।

यह प्रकरण मुख्य रूप से दो प्रकार का होता है— 1. महाप्रकरण एवं 2. अवान्तरप्रकरण। जहाँ महाप्रकरण का लक्षण है— 'मुख्यभावनासम्बन्धिप्रकरणं

महाप्रकरणम्' अर्थात् मुख्यभावना से सम्बद्ध प्रकरण को महाप्रकरण कहते हैं। यहाँ मुख्य भावना कहने का आशय स्वर्ग रूपी फल से है— 'फलं भाव्यं यस्यां भावनायाम्'। इस महाप्रकरण से ही प्रयाजादि दर्शपूर्णमास के अंग माने जाते हैं। यह महाप्रकरण केवल प्रकृति याग में ही प्रवृत्त होता है विकृति याग में नहीं है क्योंकि विकृति याग में उभयाकांक्षा अतिदेश से शान्त हो जाती है। द्वितीय प्रकरण अवान्तर प्रकरण का लक्षण है— 'अङ्गभावनासम्बन्धिप्रकरणमवान्तरप्रकरणम्'। इस अवान्तर प्रकरण से अभिक्रमण क्रियाएँ प्रयाजादि के प्रति अंग मानी जाती है। 'अभिक्रमण— होमकाले आहवनीयमभितः सञ्चरणम्। होमकाले आहवनीयसमीपे वर्तनमिति यावत्'। इस अंगत्व का ज्ञान संदंश के द्वारा होता है। इस संदंश के अभाव में प्रयाजादि महाप्रकरण एवं अभिक्रमणादि अवान्तर प्रकरण में कोई भेद न होने से फलभावना का इतिकर्तव्यता के रूप में ग्रहण होने लगेगा तथा अंगी भी अंग की तरह समझा जायेगा। यह संदंश इस प्रकार है कि जब प्रधान याग के किसी एक अंग का विधान करते समय उससे सम्बद्ध दो अंगों के मध्य किये जाने वाले विधान को संदंश कहते हैं— 'एकाङ्गानुवादेन विधीयमानयोरङ्गयोरन्तराले विहितत्वं सन्दंशः'। जैसे अभिक्रमण। महाप्रकरण एवं अवान्तर प्रकरण से साक्षात् क्रिया ही विनियुक्त होती है। यह प्रकरण स्थानादि प्रमाणों से प्रबल है क्योंकि 'अक्षैर्दीव्यति' एवं 'राजन्यं जिनाति' कर्मों में जुआ खेलना प्रकरण प्रमाण से राजसूय के अंग माने जाते हैं स्थान प्रमाण से अभिषेचनीय क्रिया के अंग नहीं।

स्थान —विनियोग विधि के पंचम प्रमाण स्थान का लक्षण है— 'देशसामान्यं स्थानम्' अर्थात् देश की समानता को स्थान कहते हैं। स्थान के दो भेद हैं— 1. पाठसादेश्य एवं 2. अनुष्ठानसादेश्य। स्थान एवं क्रम दोनों एक ही हैं। यह पाठसादेश्य भी दों रूपों में विभाजित है— 1. यथासंख्यपाठ एवं 2. सन्धिपाठ। इनमें से यथासंख्यपाठ का उदाहरण इस प्रकार है— 'ऐन्द्राग्नेमेकादशकपालं निर्वपेत्' तथा 'वैश्वानरं द्वादशकपालं निर्वपेत्' इस प्रकार से दो वाक्य प्राप्त हैं इनके ठीक बाद 'इन्द्राग्नी रोचना दिवः' एवं 'वैश्वानरो अजीजनत्' याज्यानुवाक्या मन्त्रों का पाठ होता है। ऐसे में किस वाक्य का किस मन्त्र से सम्बन्ध है इसके लिए यथासंख्यपाठ के द्वारा 'ऐन्द्राग्नेमेकादशकपालं निर्वपेत्' का 'इन्द्राग्नी रोचना दिवः' यह मन्त्र अंग है तथा 'वैश्वानरं द्वादशकपालं निर्वपेत्' का 'वैश्वानरो अजीजनत्' यह मन्त्र अंग है। ऐसे इसलिए स्वीकार किया गया है क्योंकि कैमथ्याकांक्षा होने पर समान देश में प्रथम कर्म के साथ प्रथम मन्त्र की विद्यमानता है एवं द्वितीय कर्म के साथ द्वितीय मन्त्र की। सन्धि पाठ से प्रकृति यागों के अनुवाद में कथित एवं विकृतियागों के संदंशपतित अंग विकृतियागों के अंग होते हैं जैसे— आमन होम। यह स्थान प्रमाण समाख्या से प्रबल होता है क्योंकि सुन्धनमन्त्र पाठसादेश्य से सान्नाय्यपात्र का अंग है न कि समाख्या से पुरोडाशपात्रों का।

समाख्या —विनियोग विधि के अन्तिम प्रमाण के रूप में समाख्या का उल्लेख प्राप्त है इसका लक्षण है— 'समाख्या यौगिकः शब्दः' अर्थात् यौगिक शब्दों को समाख्या कहते हैं। यह समाख्या दो भेदों वाली है— 1. वैदिक समाख्या से 'होतृचमसः' वाक्य से होता चमसभक्षण का अंग माना जाता है तथा 2. लौकिक समाख्या से 'आध्वर्यवम्' वाक्य से अध्वर्यु तत्तत् कर्मों का अंग माना जाता है।

इस प्रकार विनियोग विधि के छः सहायकभूत अंग श्रुति, लिंग, वाक्य, प्रकरण, स्थान एवं समाख्या विनियोग विधि की सिद्धि में सहायक सिद्ध होते हैं तथा अंग के अंगी से सम्बन्ध के ज्ञान में सहायक होते हैं।

26.6 प्रयोग विधि

जिस विधि से कर्म सम्पादन में शीघ्रता का बोध होता है वह प्रयोग विधि है— 'प्रयोगप्राशुभावबोधको विधिः प्रयोगविधिः'। यह विधि अंग एवं अंगी में एकवाक्यता का बोध कराने के कारण प्रधानविधि है। प्रयोग विधि के द्वारा अंग एवं अंगी का अनुष्ठान शीघ्रतापूर्वक होता है। क्रम के नियत होने के कारण ही अनुष्ठान में शीघ्रता होती है जिससे 'यह क्रिया इसके द्वारा अनुष्ठित हुई' इस प्रकार के व्यवहार का अवकाश नहीं मिलता। क्रमों के नियत न होने पर किस क्रिया का सम्पादन पहले एवं किस क्रिया का बाद में करना है? ऐसा संशय उपस्थित होगा। इसीलिए प्रयोग विधि अनुष्ठानों के अविलम्ब सम्पादन हेतु विशेष प्रकार का नियत क्रम विधान करती है— 'अतः प्रयोगविधिरेव स्वविधेयप्रयोगप्राशुभावसिद्धयर्थं नियतं क्रममपि पदार्थविशेषणतया विधत्ते'। अंगों के नियत क्रम का विधान करने के कारण ही प्रयोग विधि का एक दूसरा लक्षण भी किया जाता है— 'अङ्गानां क्रमबोधको विधिः प्रयोगविधिरित्यपि लक्षणम्' अर्थात् अंगों के क्रमबोधक विधि को प्रयोग विधि कहते हैं। क्रम का अर्थ पौर्वापर्यभाव (पूर्व एवं उत्तर भाव) अथवा एक विशेष प्रकार का विस्तार है। क्रम का बोध कराने वाले छः प्रमाण हैं— 1. श्रुति 2. अर्थ 3. पाठ 4. स्थान 5. मुख्य एवं 6. प्रवृत्ति। इनका संक्षिप्त स्वरूप इस प्रकार है—

श्रुति —क्रमबोधक शब्द को श्रुति कहते हैं। इसके दो भेद हैं— 1. केवलक्रमबोधक एवं 2. क्रमविशिष्ट पदार्थबोधक। प्रथम श्रुति का उदाहरण करते हैं 'वेदं कृत्वा वेदिं करोति' अर्थात् वेद करके वेदी का निर्माण करते हैं। यहाँ 'त्वा' प्रत्यय के प्रयोग से वेद की पूर्व क्रिया ज्ञात हुई तथा वेदी की उत्तर क्रिया। वेद का अर्थ कुश से मार्जन (झाड़ने) की क्रिया है— 'वेदो नाम सम्मार्जनाथो दर्भमुष्टिविशेषः'। इस प्रकार केवलक्रम श्रुति से यहाँ क्रममात्र का बोध होता है। द्वितीय श्रुति है क्रमविशिष्ट पदार्थबोधक श्रुति। इसका उदाहरण करते हैं 'वषट्कर्तुः प्रथमभक्ष' अर्थात् होता प्रथमतया भक्षण करे। यहाँ होता के प्राथम्यरूप क्रम से भक्षणरूप पदार्थ का बोध होता है। अतः होता के सोमभक्षण के अनन्तर ही अन्य उद्गातादि भक्षण करें, ऐसा क्रम प्राप्त होता है। यह श्रुति अर्थादि प्रमाणों से बलवती है क्योंकि यह क्रम का साक्षात् बोध कराती है जैसे कि अश्विनी का पाठक्रम से तृतीय स्थान होने पर भी 'अश्विनो दशमो गृह्यते' श्रुतिवचन से दशम स्थान पर ग्रहण होता है।

अर्थ —जहाँ प्रयोजनवशात् क्रम का निर्णय होता है वहाँ अर्थक्रम होता है— 'यत्र प्रयोजनवशेन क्रमनिर्णयः सोऽर्थक्रमः'। उदाहरण प्रस्तुत करते हैं कि 'अग्निहोत्रं जुहोति' एवं 'यवागूं पचति' ये दो वाक्य प्राप्त हैं इनमें से कौन पूर्व क्रिया एवं कौन उत्तर क्रिया है? ऐसा सन्देह होने पर चूँकि यवागूं का पाक होमसिद्धि के लिए किया जाता है अतः 'यवागूं पचति' पूर्व कृत्य है तथा 'अग्निहोत्रं जुहोति' उत्तर कृत्य है। यह अर्थ पाठक्रम से बलिष्ठ है क्योंकि 'अग्निहोत्रं जुहोति' एवं 'यवागूं पचति' में पाठक्रम से निर्धारण करें तो अग्निहोत्र होम के पश्चात् यवागूं किया जाये तो प्रयोजन की सिद्धि में बाधा उत्पन्न होगी इसलिए अर्थक्रम से यवागूं का पाक पूर्व कृत्य है अतः अर्थक्रम बलिष्ठ है।

पाठ —अनुष्ठान कर्मों के बोधक वाक्यों के क्रम को पाठक्रम कहते हैं— 'पदार्थबोधकवाक्यानां यः क्रमः स पाठक्रमः'। यह पाठक्रम कर्मों के क्रम का निर्धारण करता है। जिस क्रम से पाठ होता है उसी क्रम से पढ़े जाने पर अर्थ का बोध होता है तथा उसका उसी क्रम से अनुष्ठान भी होता है। यह पाठक्रम 1. मन्त्रपाठ एवं 2. ब्राह्मणपाठ के भेद से दो प्रकार का होता है। आग्नेय एवं अग्नीषोमीय याग में याज्या

एवं आनुवाक्या के पाठ से जो क्रम दिया होता है वह मन्त्रपाठ से निश्चित होता है तथा 'समिधो यजति' एवं 'तनूनपातं यजति' प्रयाजयागों के क्रम में ब्राह्मणपाठ से निर्धारण होता है। इन दोनों पाठों में मन्त्रपाठ ब्राह्मणपाठ से बलवान होता है क्योंकि ब्राह्मणपाठ अनुष्ठान से पूर्व ही 'इदं कर्त्तव्यम्' कहकर पृथक् हो जाता है लेकिन मन्त्रपाठ अनुष्ठान के समय व्यवहृत होता है इसलिए यह मन्त्रपाठ अन्तरंग है।

स्थान —स्थान का अर्थ है उपस्थित होना और यह कर्त्तव्यता का ज्ञान कराता है— 'उपस्थितिः कर्त्तव्यताज्ञानम्'। जिसका जो स्थान निश्चित है उसके स्थान पर यदि किसी और का सम्पादन होता है तो उससे ठीक पूर्व सम्पन्न होने वाले कर्म के अनुष्ठान हो जाने पर वही उपस्थित होता है अतः उसका पहले अनुष्ठान करना आवश्यक है— 'यस्य हि देशे योऽनुष्ठीयते तत्पूर्वतने पदार्थे कृते स एव प्रथममुपस्थितो भवतीति युक्तं तस्य प्रथममनुष्ठानम्'। जैसे कि साद्यस्क्र याग में अग्नीषोमीय, सवनीय एवं आनुबन्ध्य में से सवनीय का पूर्व में स्थान प्राप्त होने पर पहले सवनीयपशु का अनुष्ठान करना चाहिए क्योंकि आश्विन ग्रहण के पश्चात् सवनीय की ही प्रथम प्राप्ति है— 'अश्विनं ग्रहं गृहीत्वा त्रिवृता यूषं परिवीय आग्नेयं सवनीयं पशुमुपाकरोति' इत्याश्विनग्रहणान्तरं सवनीयो विहित इति साद्यस्क्रोऽप्याश्विनग्रहणे कृते सवनीय एवोपस्थितो भवति। अतो युक्तं तस्य स्थानात् प्रथममनुष्ठानमितरयोस्तु पश्चादित्युक्तम्'।

मुख्य —प्रधान—अंगी के क्रम से क्रमानुसार अंगों के अनुष्ठान का जो क्रम है उसको मुख्यक्रम कहते हैं— 'प्रधानक्रमेण योऽङ्गानां क्रमः स मुख्यक्रमः'। जिस क्रम से अंगी का अनुष्ठान होता है उसी क्रम से अंग का अनुष्ठान होने पर सभी अंग अपने अंगी के तुल्य होते हैं अर्थात् समान होते हैं। भिन्न क्रम मानने पर अंग एवं अंगी के अनुष्ठान में व्यवधान उत्पन्न होता है। इसीलिए अंगों का क्रम अंगी के क्रमानुसार होना चाहिए। अत एव प्रयाजानुष्ठान से अवशिष्ट घृतादि का प्रथमतः आग्नेय का अभिषेक होता है तदनन्तर ऐन्द्र का। क्योंकि आग्नेय याग एवं ऐन्द्र याग में पौर्वापर्य निर्दिष्ट है। यह मुख्यक्रम पाठक्रम से दुर्बल होता है क्योंकि पाठक्रम से केवल स्वाध्याय के द्वारा क्रम का निर्धारण हो जाता है किन्तु मुख्यक्रम में प्रमाणान्तर की अपेक्षा होने पर बिलम्ब से ज्ञात होता है। यह मुख्यक्रम प्रवृत्ति से बलिष्ठ है क्योंकि प्रवृत्ति क्रम में अंग अंगी से दूर हो जाते हैं लेकिन मुख्यक्रम में अंग एवं अंगी निकट आ जाते हैं।

प्रवृत्ति —प्रयोग विधि का अन्तिम प्रमाण प्रवृत्ति है। इसका लक्षण है— 'सहप्रयुज्यमानेषु प्रधानेषु सन्निपातिनामङ्गानामावृत्यानुष्ठाने कर्त्तव्ये हि द्वितीयादिपदार्थानां प्रथमानुष्ठितपदार्थक्रमाद्यः क्रमः स प्रवृत्तिक्रमः' अर्थात् प्रधान क्रियाओं के साथ साथ अनुष्ठित होने पर यदि सन्निपत्योपकारक अंगों की आवृत्ति से अनुष्ठान की अपेक्षा होने पर प्रथम—द्वितीयादि क्रियाओं का जो क्रम स्वीकृत होता है उसे प्रवृत्ति क्रम कहते हैं। उदाहरण के लिए प्राजापत्य याग में प्राप्त अंगों के अनुष्ठान में होता है। जैसे कि 'वैश्वदेवीं कृत्वा प्राजापत्यैश्चरन्ति' इस वाक्य द्वारा पशुयागों एवं उनके अंगों का उपाकरण, नियोजनादि का अनुष्ठान साथ साथ प्राप्त होता है। वस्तुतः प्राजापत्य पशुयाग के उपाकरण नियोजनादि का साथ साथ सम्पन्न होना असम्भव है इसलिए प्रथम क्रिया के सम्पन्न होते ही अविलम्ब दूसरी क्रिया सम्पन्न करनी चाहिए। इस प्रकार का क्रम निर्धारण प्रवृत्ति क्रम से होता है। यह प्रवृत्ति क्रम श्रुत्यादि प्रमाणों से दुर्बल होता है।

इस प्रकार इन श्रुति, अर्थ, पाठ, स्थान, मुख्य एवं प्रवृत्ति छः प्रमाणों के वर्णन से प्रयोग विधि सम्पन्न होती है।

26.7 अधिकार विधि

मीमांसा दर्शन में विधि के मुख्य चतुर्भेदों में अन्तिम विधि के रूप में अधिकार विधि का ग्रहण किया गया है। यह विधि कर्मों के सम्पादन से प्राप्त होने वाले फल के अधिकारी का निर्धारण करती है। इसका लक्षण इस प्रकार है— 'कर्मजन्यफलस्वाम्यबोधको विधिरधिकारविधिः' अर्थात् कर्म से उत्पन्न स्वर्गादि फलों के स्वामी अर्थात् अधिकारी का बोध कराने वाली विधि का नाम अधिकार विधि है। यह अधिकार विधि 'यजेत स्वर्गकामः' आदि वाक्यों से प्रवृत्त होती है। जैसे कि 'यस्याहिताग्नेरग्निर्गृहान् दहेत् सोऽग्नये क्षामवतेऽष्टाकपालं निर्वपेत्' अर्थात् जिस अग्न्याधान करने वाले पुरुष का घर अग्नि जला दे वह पुरुष क्षीण हुई अग्नि को आठ कपाल पुरोडाश निर्वपन करे। इस विधि से पुरोडाश निर्वपन करने में अग्न्याधान करने वाले पुरुष का स्वामित्व ग्रहण कर पापक्षय रूपी अधिकार प्राप्त होता है। कर्मफल के अधिकारी होने का आशय कर्मफल को भोगने वाले से है तथा विधिवाक्यों में कर्ता के विशेषण रूप में ग्रहण किया जाने वाला अधिकार कहलाता है। जैसे कि 'राजा राजसूयेन स्वाराज्यकामो यजेत्' अर्थात् स्वाराज्य चाहने वाला राजा राजसूय याग करे। इस विधि के द्वारा स्वाराज्य की इच्छा रखने वाले का राजा (क्षत्रियत्वविशिष्ट पुरुष) होना भी अधिकारी के विशेषण के रूप में कहा गया है। कदाचित् पुरुष के विशेषण के रूप में श्रवण न होने पर भी अधिकारी का विशेषण माना जाता है जैसे 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' द्वारा याज्ञिक कर्मों में अर्थज्ञानवान् होना आवश्यक है इसलिए विद्या का ग्रहण होता है। इसी प्रकार अन्य स्थानों पर तत्तत्प्रकरण में स्वामित्व एवं अधिकार आदि का विधान प्राप्त होता है।

26.8 सारांश

अर्थसंग्रह में वेद को अपौरुषेय कहते हुए उसे पाँच भागों में विभाजित किया गया है— विधि, मन्त्र, नामधेय, निषेध एवं अर्थवाद। वेद के द्वितीय भाग मन्त्र का वर्णन करते समय ग्रन्थकार ने मन्त्र के सम्यक्तया अवबोधन के लिए अपूर्व विधि, नियम विधि एवं परिसंख्या विधि का उल्लेख किया है। तीनों में अंशमात्र का अन्तर होने के कारण प्रायः तीनों के विषय अवबोधन में कठिनाई भी होती है। तन्त्रवार्तिककार कुमारिल भट्ट ने एक श्लोक में तीनों को स्पष्ट रूप से बताया है —

विधिरत्यन्तमप्राप्तौ नियमः पाक्षिके सति ।

तत्र चान्यत्र च प्राप्तौ परिसंख्येति गीयते ॥

इस प्रकार जहाँ अत्यन्त अप्राप्त का विधान हो वहाँ अपूर्वविधि होती है, जहाँ पक्ष में अप्राप्त का विधान कराने वाली विधि नियम विधि है तथा एक ही काल में युगपत् के प्राप्त होने पर अन्य की व्यावृत्ति कराने वाली विधि परिसंख्या विधि है। अपूर्व विधि की व्याख्या करते समय 'यजेत स्वर्गकामः' इस वाक्य के द्वारा अत्यन्त अप्राप्त के स्थान पर अपूर्व विधि द्वारा विधान किया गया है। 'व्रीहीनवहन्ति' वाक्य द्वारा अनेक साधनों के प्राप्त होने पर जो अप्राप्त साधन है उसकी प्राप्ति नियम विधि द्वारा होती है। परिसंख्या के दो भेद होने से श्रौती परिसंख्या में 'अत्र होवावपन्ती' वाक्य द्वारा 'एव' शब्द से अन्यों का व्यावर्तन हो जाता है। परिसंख्या विधि का दूसरा भेद अधिक व्याख्या की अपेक्षा रखता है क्योंकि 'पञ्च पञ्चनखा भक्ष्या' वाक्य द्वारा पञ्चनख वाले पाँच जीवों एवं उनसे अतिरिक्त अन्य जीवों के मांसभक्षण की निवृत्ति तो हो जाती है लेकिन यहाँ तीन दोष भी प्राप्त हो जाते हैं— श्रुतहानि, अश्रुतकल्पना एवं प्राप्तबाध। श्रुत अर्थ का

परित्याग करना श्रुतहानि है, जो अश्रुत है उसकी कल्पना करना अश्रुतकल्पना है एवं जो वाक्य द्वारा प्राप्त है उसका बाध कर देना प्राप्तबाध है।

इस प्रकार मन्त्र के 'प्रयोगसमवेतार्थस्मारका मन्त्राः' इस लक्षण में अर्थ (द्रव्य, देवतादि) के सम्यक् ज्ञान के लिए अपूर्व विधि, नियम विधि एवं परिसंख्या विधि का भलीभाँति ज्ञान अत्यन्त आवश्यक है क्योंकि किस वाक्य का क्या अर्थ लेना है इसका निर्धारण प्राप्त अप्राप्त का निर्धारण किये बिना नहीं ग्रहण कर सकते हैं। शब्द किसी एक ही अर्थ का आश्रयण ग्रहण नहीं करते हैं अपितु प्रसंगवश उनका अर्थ बदलता रहता है। इसीलिए मीमांसा दर्शन में एक अन्य शब्दशक्ति 'तात्पर्यशक्ति' की कल्पना की गयी। अतः उपर्युक्त विवेचन से यह निष्कर्ष प्राप्त होता है कि वेद के तात्पर्य को समझने के लिए अथवा वेद के प्रतिपाद्य विषय को भलीभाँति समझने के लिए मन्त्र के अंश अपूर्व विधि, नियम विधि एवं परिसंख्या विधि को जानना अत्यन्त आवश्यक है।

26.9 शब्दावली

अग्निहोत्र	–	अग्नि को उद्देश्य करके सुबह एवं शाम को होने वाला होम।
अपूर्व विधि	–	विधि की प्रवृत्ति से पहले प्रमाणान्तर से जिस अर्थ का ज्ञान नहीं होता है, वह अपूर्व विधि है। यथा— अग्निहोत्रं जुहोति।
अश्रुतकल्पना	–	शब्द से बोध्य के विपरीत अर्थ की कल्पना।
कर्मभेद	–	याग का भेद। दो— अर्थकर्म एवं गुणकर्म।
दर्शपूर्णमास	–	दर्श (अमावस्या) और पौर्णमासी तिथियों में क्रमशः सम्पाद्य
यथाक्रम तीन	–	तीन यागों की समष्टियों के मिलाने पर दर्शपूर्णमास याग सम्पन्न होता है।
धर्म	–	जो विधिवाक्य से ज्ञात हो तथा इष्ट का साधन हो।
नियमविधि	–	एक पक्ष में अप्राप्त अर्थ को प्राप्त कराने वाली विधि।
निषेध	–	अनिष्ट कर्म से परिहार कराने वाला वेद का चतुर्थ भाग।
फलविधि	–	जिस विधिवाक्य में कर्म के फल का स्पष्ट निर्देश हो।
फलश्रुति	–	क्रतु के लिए विहित द्रव्य, संस्कार तथा कर्म का फल के साथ सम्बन्ध का श्रवण अथवा कथन।
बाध	–	अनुष्ठान की निवृत्ति का बोधक।
भूतार्थवाद	–	यथार्थकथन।
वेद	–	अपौरुषेय वाक्य जो ज्ञानराशिरूप में विद्यमान है।
श्रुतहानि	–	शब्द से बोध्य अर्थ का परित्याग।
स्तोत्र	–	साम मन्त्र से की गयी स्तुति।

26.10 कुछ उपयोगी पुस्तकें

1. अर्थसंग्रह, लौगाक्षिभास्कर, मीमांसार्थसंग्रहकौमुदी संस्कृत टीका, रामेश्वर शिवयोगी,
2. अर्थमीमांसा हिन्दी व्याख्या एवं भाष्य, हिन्दी भाष्यकार— डॉ. राजेश्वर शास्त्री मुसलगाँवकर, वाराणसी, चौखम्भा संस्कृत संस्थान, संस्करण— वि.सं. 2016।

3. अर्थसंग्रह, लौगाक्षिभास्कर, मीमांसार्थसंग्रहकौमुदी नाम संस्कृत टीका, रामेश्वर शिवयोगी, प्रकाशिका हिन्दी व्याख्या, हिन्दी व्याख्याकार— डॉ. कामेश्वर नाथ मिश्र, वाराणसी, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, 2014 ।
4. अर्थसंग्रह, लौगाक्षिभास्कर, अर्थालोक संस्कृत टीका, पट्टाभिराम शास्त्री, हिन्दी व्याख्याकार— डॉ. वाचस्पति मिश्र, वाराणसी, चौखम्बा ओरियण्टलिया, 1990 ।
5. अर्थसंग्रह, लौगाक्षिभास्कर, मीमांसार्थसंग्रहकौमुदी नाम संस्कृत टीका, रामेश्वर शिवयोगी, दीपिका हिन्दी व्याख्या, त्यागमूर्ति श्रीटाटाम्बरिस्वामी, वाराणसी, चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, 1979 ।
6. अर्थसंग्रह, लौगाक्षिभास्कर, सार्थसंग्रहकौमुदी संस्कृत टीका, टीकाकार— रामेश्वर शिवयोगी, अर्थबोधिनी हिन्दी टीका डॉ. दयाशंकर शास्त्री, वाराणसी, चौखम्बा विद्याभवन, 2003 ।
7. भारतीय दर्शन, आचार्य बलदेव उपाध्याय, वाराणसी, शारदा मन्दिर, 2016 ।
8. भारतीय दर्शन, डॉ. नन्द किशोर देवराज, लखनउ, उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, 2002 ।
9. भारतीय दर्शन, डॉ. जगदीशचन्द्र मिश्र, वाराणसी, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, 2005 ।
10. भारतीय दर्शन, वाचस्पति गैरोला, इलाहाबाद, लोकभारती प्रकाशन, 2009 ।
11. मीमांसामञ्जरी, र. तङ्गस्वामी शर्मा, नई दिल्ली, भारतीय दार्शनिक अनुसन्धान परिषद्, 1996 ।
12. मीमांसा के पारिभाषिक पदों का परिचय, डॉ. किशोरनाथ झा, नई दिल्ली, राष्ट्रीय संस्कृत संस्थान, 2013 ।

26.11 अभ्यास प्रश्न

1. मीमांसा दर्शन का परिचय देते हुए मन्त्र पर प्रकाश डालें ।
2. मन्त्र का परिचय देते हुए अपूर्व विधि को समझाएं ।
3. नियम विधि का सोदाहरण प्रतिपादन करें ।
4. परिसंख्या विधि पर निबन्ध लिखें ।
5. वेद के द्वितीय भाग मन्त्र का महत्त्व समझाएं ।
6. श्रुत्यादि षट् प्रमाण कौन-कौन से हैं? संक्षिप्त वर्णन कीजिए ।